संपादकीय

बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में वैश्विक फलक पर उदारीकरण, भूमंडलीकरण और बाजारवाद का तेजी से विस्तार हुआ तो इसका व्यापक असर भारत पर भी पड़ा। 1990 के आसपास भारत में कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। यथा- बाबरी मस्जिद विध्वंस, नक्सलवाद का उदय, मंडल कमीशन का गठन आदि। इन घटनाओं ने भारत की सामाजिक राजनीतिक संरचना में आमूलचूल परिवर्तन हुआ। इसी के प्रभाव स्वरुप हाशिए के समाज-स्त्री, दलित और आदिवासी का प्रतिरोधी स्वर भी मुखरित हुआ। पिछले कुछ दशकों में हिन्दी उपन्यास का केन्द्रीय स्तर यही अस्मितावादी विमर्श रहा है। आलोचक वीरेन्द्र यादव हाशिए के समाज को केन्द्रित कर किये जा रहे इस विपुल लेखन को 'उपन्यास के जनतन्त्र का विकास' सही ही कहते हैं। हाशिए के समाज पर केन्द्रित इन उपन्यासों के मूल्यांकन के लिए आलोचना की नई कसौटी की पक्षधरता करते हुए उनका कहना ठीक है कि, "हिन्दी उपन्यास की यह नई सामर्थ्य है कि जिन लोगों, समुदायों व समाज को हाशिए पर ढकेल दिया गया है, वे औपन्यासिक केन्द्रीयता प्राप्त कर रहे हैं। यह काफी कुछ हिन्दी में समाज शास्त्रीय लेखन की क्षतिपूर्ति सरीखा है। शायद यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि अंग्रेजी में पी. साईनाथ, सिद्धार्थ दुबे और काँचा इल्लैय्या जैसे लोग जो समाजशास्त्रीय व सबाल्टर्न लेखन कर रहे हैं, कमोबेश उसकी आहट इधर के हिन्दी उपन्यासों में देखी जा सकती है। इसमें दो राय नहीं कि हाशिए के समाज का वृत्तान्त रचते ये उपन्यास हिन्दी उपन्यास के कुलीन तंत्र की चर्चा से बहिष्कृत ही रहेंगे, क्योंकि इन उपन्यासों की नई विषयवस्तु आलोचना की उस नई कसौटी की माँग करेगी जो आभिजात्यवादी मूल्यों को बहिष्कृत कर देगी। हिन्दी उपन्यास में हाशिए के समाज की केन्द्रीयता के यही निहितार्थ हैं।"

हिन्दी उपन्यास या भारतीय उपन्यास का आरम्भिक लेखन स्त्री- केन्द्रित उपन्यासों 'भाग्यवती', 'इंदूलेखा', 'इंदिराबाई' जैसे उपन्यासों से होता है। हिन्दी में निराला, प्रेमचंद, नागार्जुन, रेणु, अमृतलाल नागर, रामदरश मिश्र से लेकर जगदीश चन्द्र तक में स्त्री और हाशिए के उपेक्षित समाज का चित्रण किया गया है, लेकिन 80 के बाद यह कथा- लेखन के केन्द्र में आ गया। स्त्री, दलित और आदिवासियों को केन्द्रित कर अधिकांश उपन्यास इसी दौर के हैं। स्त्री-विमर्श, अस्मितावादी विमर्श में सबसे मुखर स्वर है। 'नारी-मुक्ति' के बहुविध आशयों के साथ ये उपन्यास नारी-जीवन के नये अर्थों की तलाश करते हैं। इन्हें पुरुष के साथ बराबर का अधिकार ही नहीं, उससे अधिक चाहिए। पुरुष वर्चस्व को चुनौती देती इन उपन्यासों की नायिकाएं जीवन को खंडित नहीं, सम्पूर्णता में स्वीकार करती हैं। इनमें स्वप्न देखने की शक्ति है तो उसे पूरा करने का माद्दा है। संघर्ष और सृजन भी है। इन उपन्यासों में स्त्री-जीवन का स्वप्न-संघर्ष ही नहीं है। जीवन जगत के व्यापक सरोकार और चिन्ताएँ भी हैं। कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा, मृदुला गर्ग, चित्रा मुदगल, मैत्रेयी पुष्पा, गीतांजली श्री, मधु कांकरिया, अलका सरावगी, और अनामिका स्त्री मुक्ति की महत्त्वपूर्ण कथाकार हैं।

कृष्णा सोबती के उपन्यास 'मित्रो-मरजानी' की 'मित्रो' स्त्री-स्वातन्त्र्य का नया पाठ प्रस्तुत करती है। मृदुला गर्ग 'चितकोबरा' और 'कठगुलाब' में स्त्री-मुक्ति को बड़ी मुखरता से चित्रित करती हैं। स्त्री-मुक्ति में देह-मुक्ति और स्त्री-अस्मिता के नये रास्तों की तलाश करती है। स्त्रीवादी लेखन में स्त्रीपक्ष को धारदार तरीके से प्रभा खेतान ने 'छिन्नमस्ता' और 'पीली आँधी' में अधिक संश्लिष्टता से रचा है। स्त्री जीवन में होने वाले अत्याचार और द्वंद्व इनके उपन्यासों में बड़ी सूक्ष्मता से व्यक्त किया गया है। नारी स्वातन्त्र्य के लोकपक्ष- बुन्देलखंड, ब्रज क्षेत्र को उपन्यास का कथानक बनाकर 'इदन्नमम्', 'अल्मा-कबूतरी' और 'चाक' में मैत्रेयी

पुष्पा स्त्री- स्वातन्त्र्य को नयी प्रखरता से अभिव्यक्त करती है। इनके उपन्यासों में लोक गीतों और लोक-चेतना को स्त्री-मुक्ति के पक्ष में बड़ी सार्थकता से चित्रित किया गया है, लेकिन 'चाक' जैसे उपन्यास में लेखिका स्त्री-स्वातन्त्र्य का जो पाठ प्रस्तुत करती है, वह स्त्री- मुक्ति की सृजनात्मकता पर प्रश्न-चिह्न लगाता है।

चित्रा मुद्गल का उपन्यास 'आवां' स्त्रीवाद का महानाख्यान है। परम्परा, आधुनिकता, घर, परिवार के आलोक में स्त्री-मुक्ति का स्वस्थ और सबल कथ्य यहाँ उपस्थित है। प्रतिरोध के साथ सृजन का नया सौन्दर्य सुखद है। अलका सरावगी स्त्री मुक्ति के प्रश्न को इतिहास, समाज और संस्कृति के वृहद् फलक पर अभिव्यक्त करती हैं। उपनिवेशकालीन भारत, स्वतन्त्र भारत और समकालीन उपभोक्तावाद बाजारवाद के दायरे में स्त्री-प्रश्नों को सार्थकता से कथानकों में उकेरा गया है। 'कलिकथा : वाया बाईपास', 'शेष कादम्बरी' और 'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास की कथा को इसी आलोक में पढ़ा जा सकता है। 'शेष कादम्बरी' में जीवन की समस्या को लेखिका कुछ ऐसी प्रश्नाकुलता से व्यक्त करती है कि मानो वह स्त्री पक्ष के इतिहास, वर्तमान और भविष्य की चिंता से ग्रस्त है, "ऐ औरत तू ने जब भी किसी कोने में पुरुष से अलग अपना कुछ बनाया तो तुझे इसकी कीमत चुकानी पड़ी है, लेकिन तुम इस अपने पैसे की जो कभी तुम्हारा नहीं था और न कभी तुम्हारे हाथ में था आखिर कितनी कीमत चुकाओगी।"

समकालीन लेखिका गीतांजलि श्री के उपन्यास स्त्री-मुक्ति या विमर्श की स्वस्थ दृष्टि का परिचय देते हैं। 'तिरोहित' में वह स्त्री-पक्ष के परम्परागत पाठ से अलग नये रचनात्मक संसार को रचती है। कथ्य और शिल्प में कहे- अनकहे के बीच संवाद और संकेतों को लेखिका समर्थ भाषा में लिखती है। स्त्रीवादी विमर्श के कथानक से लैस इन स्त्री लेखिकाओं के उपन्यासों में स्त्री के आर्थिक स्वावलंबन की प्राथमिकता के साथ परिवार, समाज और संस्कृति के प्रति उसकी जवाबदेही की कथा भी है। कथा के नये मुहावरों और रूपों के साथ भाषिक कला का निर्वाह भी यहाँ सजगता से हुआ है।

स्त्री-जीवन की तरह दलित समाज की समस्या पर हिन्दी में विपुल लेखन हुआ है। निराला का 'चतुरी-चमार', प्रेमचंद के 'रंगभूमि' और 'गोदान', रांगेय राघव का 'कब तक पुकारू, अमृतलाल नागर का 'नाच्यौ बहुत गोपाल', गिरिराज किशोर का 'परिशिष्ट', जगदीशचन्द्र का 'धरती धन न अपना', अब्दुल बिस्मिल्लाह का 'झीनी-झीनी बीनी चचदरिया'रामदरश मिश्र का 'पानी की प्राचीर', शिवप्रसाद सिंह का 'अलग-अलग वैतरणी', मन्नू भंडारी का 'महाभोज' और संजीव का 'सूत्रधार' दलित- जीवन पर ही केन्द्रित उपन्यास है। यह अलग बात है कि दलित चिंतक इन उपन्यासों को दलित उपन्यास की कोटि में नहीं रखते। दलित आलोचकों ने जिन उपन्यासों को दलित उपन्यास माना है, उनमें जयप्रकाश कर्दम का 'छप्पर', प्रेम कपाड़िया का 'मिट्टी की सौगन्ध', सत्यप्रकाश का 'जस-तस भई सबेर', रूप सिंह चंदेल का 'पत्थर टीला', मोहनदास नैमिशराय का 'मुक्ति-पर्व', भगवानदास मोरवाल का 'काला-पहाड़' और अजय नावरिया का 'उघर के लोग' उपन्यास चर्चित हुए। दलित उपन्यासों से अधिक दलित आत्मकथाएं अधिक प्रशंसित हुई हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि का 'जूठन', मोहनदास नैमिशराय का 'अपने-अपने पिंजरे', कौशल्या बैसंत्री का 'दोहरा अभिशाप' और तुलसीराम की 'मुर्दहिया' दलित जीवन के संघर्ष, यथार्थ, विडम्बनाओं का प्रमाणिक दस्तावेज हैं। दलित रचनाओं में दलित मुक्ति की वैचारिकी का सरोकार अंबेडकर और ज्योतिबा फुले के चिन्तन से निर्मित होता है। इस चिन्तन में वर्चस्ववादी संस्कृति के विरुद्ध हाशिए के समाज की प्रतिरोधी संस्कृति का चिन्तन मुखर है। औपनिवेशिक आधुनिकता के दौर से ही आरम्भ हुआ यह चिन्तन कई अन्तर्विरोधों के बावजूद सृजन की मुख्यधारा के समानान्तर रचनात्मकता का संसार सृजित करता रहा है। 'भोगे हुए यथार्थ'

को महत्त्व देने वाला यह साहित्य और चिन्तन 'साहित्य के नये सौन्दर्यशास्त्र' को गढ़ने में भी समर्थ है। अस्मिता आधारित इस विमर्श से साहित्य की संस्कृति का रचनात्मक फलक व्यापक और लोकतांत्रिक हुआ है।

हिन्दी उपन्यास में आदिवासी जीवन को केन्द्रित कर लिखे गये उपन्यास रचना और सरोकार में साहित्य की संस्कृति का विस्तार है। इन उपन्यासों में आदिवासी जातियों की स्थानीय समस्याओं, उनकी संस्कृति के साथ भारतीय राष्ट्र की पुनर्व्याख्या भी है औरजल, और जमीन की लड़ाई भी। हाशिए के समाज पर केन्द्रित इन उपन्यासों में आदिवासी जीवन की परम्परा, संस्कृति, प्रतिरोध और संघर्ष की दास्तान है। नवसाम्राज्यवादी ताकतों और सत्ता के गठजोड़ से इस आदिम संस्कृति को नष्ट करने की जो कवायद हुई, उसका प्रतिरोध व्यापक पैमाने पर इस समाज ने पूरी ईमानदारी और सामर्थ्य से किया है। आदिवासी जीवन के संघर्ष, प्रतिरोध की संस्कृति और जल-जंगल-जमीन को बचा लेने की उनकी जद्दोजहद को उपन्यासों में बड़े शिद्दत से प्रस्तुत किया है। इन उपन्यासों में किसी-न-किसी आदिवासी जाति के संघर्ष के बहाने स्थानीयता के साथ राष्ट्रव्यापी समस्याओं को भी उपन्यास में उद्घाटित किया गया है। आदिवासी जीवन पर केन्द्रित प्रमुख उपन्यासों में वीरेन्द्र जैन के 'डूब' और 'पार' में राऊत जनजाति, संजीव के 'जंगल जहाँ शुरु होता है' में थारू, मैत्रेयी पुष्पा के 'अल्मा-कबूतरी' में कबूतरा जनजाति, पीटर पाल एक्का के 'जंगल के गीत' में मुंडा समाज, तेजिंदर के 'कालापादरी' में उराँव समाज, श्रीप्रकाश मिश्र के 'जहाँ बाँस फूलते हैं' में मिजो जनजाति, रणेन्द्र के 'ग्लोबल गाँव के देवता' में असुर समाज, मनमोहन पाठक के 'गगन घटा घहरानी' में उरांव समाज और राकेश कुमार सिंह के उपन्यास 'जो इतिहास में नहीं' में संथाल जनजाति का चित्रण है।

कुल मिलाकर कहें तो अस्मिता-विमर्श भारतीय समाज की मुख्यधारा से अलग कर दिये गए हाशिए के समाज का विमर्श है, जो प्रत्येक स्तर पर समता की मांग करता है। यह वही वर्ग है, जिसे सबाल्टर्न (मातहत) कहा जाता है। भारतीय समाज में स्त्री, दलित और आदिवासी किसी न किसी के मातहत होने को अभिशप्त है। अस्मिता-विमर्श से संबंधित सृजन में स्वानुभूति की प्रधानता होती है। इसीलिए ऐसे साहित्य के लिए 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' या 'रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द: काव्यम्' जैसी साहित्यिक परिभाषा असंगत है। अस्मितावादी साहित्य आत्मिक पीड़ा का शब्दांकन है। इसके मूल्यांकन का सौन्दर्यशास्त्र भी पृथक् होगा।

डॉ. उमेश कुमार शर्मा
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
श्री राधा कृष्ण गोयनका महाविद्यालय, सीतामढ़ी (बिहार)